विपत्ती में फंसी आवाज़े

अशोक दामोदर रानडे

(मूल प्रसिद्धी - संगीत कला विहार, संपा. बी. आर. देवधर, अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल, मिरज, फरवरी १९७७)

मेरे पास एक युवक आता है। वह पेशेवर गायक बनना चाहता है। पर गाना आरम्भ करने के आधे घंटे में ही उसकी आवाज़ थक जाती है! और एक युवती भी आती है। शहर के एक महाविद्यालय में वह अध्यापन कार्य करती है। पर एक घंटा पढ़ाने पर ही उसकी आवाज बैठ जाती है। एक पेशेवर अभिनेता है। उसकी शिकायत है कि अपनी आवाज पर उसका नियंत्रण नहीं रहता। इन सभी की आवाजों में कोई स्वाभाविक दोष है या और कोई गडबड है? मैं उनकी प्रदीर्घ भेटवार्ता लेता हूँ। उनका आहार-विहार, नींद की आदतें, उनकी गंभीर बिमारियाँ आदि सभी बातों से सम्बंधित प्रश्न पूछता हूँ। आवाज के बारे में उनके आदर्श, उनके घर और दफ्तर का वातावरण आदि की पूछताछ करता हूँ। एक टिप्पणी तैयार करता हूँ। मेरी राय में यह सब आवश्यक है। क्योंकि इन और ऐसे घटकों के कारण आवाज बनती, बदलती, बिगडती और सुधरती है - जो मेरा अपना निष्कर्ष है। आवाज तो व्यक्तिमत्त्व का प्रमुख आविष्कार होता है और व्यक्तिमत्त्व को बनानेवाले सभी घटकों से आवाज भी प्रभावित होता है। अतः यह जानने के लिए कि आवाज कहाँ बिगड जाती है, सारे व्यक्तिमत्त्वही का अर्थ लगाना होगा। व्यक्तिमत्त्व अनगिनत होते हैं और आवाज भी। आवाज की बहुविध शिकायतों के उदाहरण हमने ऊपर देखें हैं। पर इन सभी में एक ही बात 'कॉमन' है और वह यह कि ये सभी आवाजें विपत्ती में फंसी हुई आवाजें है।

कोई शारीरिक विकार न हो तो मुझे यह समझाने का काम करना पड़ता है की सभी की अपनी स्वाभाविक आवाजें होती है। जितनी मात्रा में हम समझते हैं, उतना आवाज कोई ईश्वरीय देन नहीं होती। सर्वसाधारण शरीर यंत्रणा की सर्वसाधारण कार्यवाही से आवाज निर्माण होती है। आवाज को प्राकृतिक रूप से कार्य करने दे, उसमें बांधाएँ न डाले - इतनी सी बात हम कर सके तो काफी है। परंतु दुर्भाग्य से हम इस बात को ठीक से नहीं जानते कि यह कैसे किया जाए। प्रायः गलत आदतें, आलस्य, गलत आदर्शों का अनुकरण आदि बातों के कारण हमारी आवाजें बिगड जाती हैं। स्वाभाविक रूप ही से बिगडी हुई आवाजे कम पायी जाती है। अतः आवाज संवर्धन विज्ञान की ओर आने पर पहले कई बातों को भूल जाना सीखना पडता है। ईश्वर, दैव, देन चमत्कार आदि की तुलना में प्रयत्नों के द्वारा ही आवाज के बारे में बहुत कुछ किया जा सकता है। केवल आवश्यकता होती है कष्ट उठाने की और सीखना पडता है कि कष्ट कैसे उठाये जाए। भले ही यह कठिन हो पर असंभव बिलकुल नहीं है। सभी के पास आवाज की यंत्रणा होती है, अत: सभी की अपनी स्वाभाविक आवाज होती है - इस ग्रहीत के साथ ही वास्तव में प्रारंभ किया जाना चाहिए।

इस बात का विश्वास करा देने पर कि आवाज है, अगली सिढी होती है गलत आदतों को हटा देना। उन्ही गलतियों को बार-बार करने के कितने ही प्रकार मानव ने ढूँढे हैं - इसे देख कर मै हैरान हो गया हूँ। झुककर चलने की आदत कितने लोगों की होती है। पर इसमें भी कितनी विविधता पायी जाती है। दो आदमी दो प्रकारों से झुककर चलते है। श्वसन, जबडे की हरकतें, सिर का ढंग, जीभ का चलन आदि बातों की भी यही कहानी होती है। इस प्रकार की गलतियों और आवाज के बिगाड में क्या संबंध है इस बात को उन्हें पहले समझाना पड़ता है।

इस विषय का भान कराना पडता हैं। फिर आदतों को बदलने का महा कष्टकारी काम शुरू हो जाता है। यह कार्य उतना ही कठिण होता है जितना कि वयस्क व्यक्ती के हस्ताक्षर को सुधार देना। इसके लिए मैं विभिन्न योगासनों का प्रयोग (व्यक्ती के अनरूप) करता हूँ। कभी कभी एक ही व्यक्ति के संदर्भ में विभिन्न समय विभिन्न योगासनों का प्रयोग करता हूँ। क्योंकि आसन कोई

कसरत नहीं होती। पक्व मनोवस्था और उसके साथ रहने वाली शरीर वैज्ञानिक मनोवस्था में संतुलन करना योगासनों का उद्देश्य रहता है। इसी कारण आसनों की अंतिम अवस्था तक बिना पहुँच उसके आसपास पहुँच जाने से भो लाभ होता है। योगासन की सिद्धी में एक मानसिक विकास को गृहित मान लिया जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण घटक उसमें रहता है। आवाज संवर्धन विज्ञान के संदर्भ में इसका विचार सामने रखना आवश्यक है।

योगासन को लेकर और एक नियम का पालन मैं हमेशा करता हूँ। किसी योगी के उद्देश्य में अच्छी आवाज का कमाना समाविष्ट नहीं होता। अतः आवाज कमाने तथा उसे वैसा ही रखने के लिए यह आवश्यक नहीं, कि योगी जो कुछ करता हो अथवा योगविज्ञान जिन बातों का समर्थन करता हो इन सभी बातों पर अमल किया ही जाए। यह ठीक है कि आवाज सुधारने के दौरान में योग से अन्य कुछ लाभ (मनःशांति, मोक्ष आदि) हाथ लगे तो न छोडे; परंतु हमारा उद्देश्य सीमित तथा अधिक निश्चित आवाज की गुणवत्ता को सुधारना और कायम रखना होता है। और अपने प्रयत्नों को उसी दिशा में जारी रखना उचित और अर्थपूर्ण भी है। संक्षेप में, यह ऐसा कुछ है कि मैं योग का स्वीकार करता हूँ पर संपूर्णतया योग पर अवलंबित नहीं रहता, कपालभाती आदि का उपयोग मै नहीं करता। वैसे भी मेरी राय में आवाज का संवर्धन करने वाले व्यक्ति को सभी प्रकार के प्राणायाम नहीं करने चाहिए।

इन सारे प्रयत्नों के द्वारा 'विपत्ती में फंसी आवाजों' को मैं और एक बात समझाना चाहता हूँ। वह यह कि आवाज संवर्धन में समूह के द्वारा की जाने वाली कवायत का वैसे स्थान नहीं होता। इसका कारण यह है कि हम सभी की आवाजें समान हो नहीं सकती और उस प्रकार हमारा उद्देश्य भी नहीं होता। आवाज़ की सीमाएँ व्यक्तिगत होती हैं। हमारा प्रयत्न रहता है व्यक्तिगत आवाजों के गुणों का वर्धन तथा रक्षण करने का, आप अपनी ही आवाज का अधिक से अधिक और कार्य क्षमता के साथ खुदही उपयोग करे। अपनी आवाज़ का अधिक से अधिक और कार्य क्षमता के अनुसार उपयोग करने में ही आवाज़-संवर्धन-शास्त्र की आस्था है। अपनी सुधरी हुई आवाज और दूसरे का अनुकरण कर बनायी हुई आवाज, इनमें से पहली की ही विजय अटल होती है। किसी आवाज़ का अनुकरण करने पर जो आवाज़ उत्पन्न होती है वो कभी पूरी तरह अपनी नहीं हो सकती। इसलिए हर एक छात्र को स्वतंत्र रूप से सिखाना पडता है। इसी कारण आवाज संवर्धन विज्ञान की पुस्तक उतनी उपयुक्त सिद्ध नहीं होती। जिसका अध्ययन हुआ हो उसके लिए वह पुस्तक उपयुक्त होगी। पुस्तक का उपयोग होता है पुनरावृत्ति के लिए, प्रारंभिक अध्ययन के लिए नहीं। मेरी प्राणालि से यही लाभ है और कहें तो हानि भी। लाभ यह कि आवाज की समस्याओं का अधिक गहराई में उतरकर पीछा किया जा सकता है और हानि यह कि बडे पैमाने पर आवाज को सुधारने का कारखाना चलाया नहीं जा सकता! पर इसका कोई इलाज नहीं। क्योंकि यहाँ एक प्रकार की सदसद्विवेकबुद्धी उलझी रहती है। कुछ व्यायाम प्रमाणित किये जा सकते हैं और अनेक लोग एक ही समय पर उन्हें कर सकते हैं। परंतु हर एक को कई बार यह समझा देना पडता है कि उन्हें कैसे करें।

आवाज का प्रयोग करने वाले मुख्यतया दो वर्ग होते हैं - गायक और अभिनेता। इन दोनों के लिए उपयुक्त रहने वाली आवाज की कसरतें अर्थात ही कुछ विभिन्न होती हैं। कारण यह की भाषण और गायन की आवाज के पास रहने वाली माँगें लक्षणीय रूप से विभिन्न होती हैं। फिर भी मेरी राय में गाने वाली और बोलने वाली आवाज के भेदों पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है। गुणवत्ता की भाषा में कहा जाए तो दोनों प्रकार की आवाजें ठोस, संपन्न होनी चाहिए और यंत्रणा का कार्यक्षम प्रयोग भी होना चाहिए। इसलिए मेरे २० वर्गीय सत्र में करीबन १६ वर्गो तक उन्हीं बातों पर बल रहता है जो भाषण और गायन के लिए समान रहती हों। अंतिम चार वर्गों में भाषण और गायन का भेद महत्त्वपूर्ण रहता है। एक ओर व्यायाम, साहित्यिक अथवा नाटक के परिच्छेद आदि को लेकर विशिष्ट संबधित भाषा महत्त्वपूर्ण रहती है और दूसरी ओर गायन प्रकार, गायनालंकार आदि का अवलंबन रहता है। परंतु मूल में गुणवत्ता और उसके सुधार को लेकर गायन-भाषण को मैं समान मानता हूँ और मेरे आवाज संवर्धन सत्र में इसका प्रतिबिंब अपरिहार्य रूप से दिखायी देता है।

इस विवेचन की पृष्ठभूमि पर मैं एक मुद्दा प्रस्तुत करना चाहता हूं - इसलिए कि वह महत्त्वपूर्ण भी है और उपेक्षित भी। गाने वाली आवाज खुद अपनी आवाज का स्वाभाविक, परिष्कृत, वर्धित एवं गुणवत्तापूर्ण संस्करण होना चाहिए। परिणाम प्राप्ती के हेतु अथवा अन्य किसी कारण जोर लगाकर, कृत्रिमता का स्वीकार कर, ध्यान आकर्षित करने योग्य आवाज बनाने के प्रयत्न नहीं किये जाने चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि पाश्चिमात्त्य संगीतिकाओं में गानेवालों की आवाजें ताकत भरी, कार्यक्षम और भरपूर परिणामकारक होते है। परंतु वे कृत्रिम लगते हैं। पश्चिमी लोगों की बोलने की आवाज, अन्य प्रकार के गायन (गीतगायन, जाज संगीतादि) गायन में प्रयुक्त आवाज और आपेरा-गायन की आवाज आदि में ज़मीन आसमाँ का फर्क होता है। इस प्रकार का फर्क करने के पीछे ऐतिहासिक, रूढिजन्य कोई कारण अवश्य होंगे। फिर भी स्वाभाविक आवाज का अपभ्रंश बिना क्या गायन हो ही नहीं सकता? यही सवाल सामने आ जाता है। वैसे भारतीय शास्त्रीय संगीत गायकों को लेकर भी यही सवाल उठता है। अतः क्या शास्त्रीय संगीत का स्वरूप ऐसा होता है कि जिसका गायन प्राकृतिक आवाज में किया ही नहीं जा सकता? और क्या ऐसा स्वरूप बनाये रखना आवश्यक है? इस प्रकार के दो प्रश्न पूछे जा सकते हैं। मेरी राय में ऐसी कोई आवश्यकता नहीं। प्राकृतिक आवाज और शास्त्रीय पद्धति का गायन एक-दूसरे से विपरीत नहीं है। इसमें से ही एक उपविचार यह है कि स्वर संहतिपद्धति से अधिकृत संगीत, आवाज-संवर्धन के लिए अनुकल है। स्वरसंगति पद्धति से अधिकृत संगीत, स्वररंग तथा ध्वनि के गाजपर इतनी बड़ी मात्रा में निर्भर रहता है कि इस से स्वाभाविक आवाज के आधार पर अविरत चलना उसके बस की बात नहीं होती। यहाँ मैं यही सूचित करना चाहता हूँ कि भारतीय संगीत-प्रणाली (और शायद स्वर-संहिता प्रणालि के सभी संगीतों) के स्वरूप से लाभ उठाकर प्राकृतिक आवाज का लगाव हासिल करना अधिक आसानी से संभव हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय संगीतकार प्राकृतिक आवाज को प्रयुक्त करते है, दुर्भाग्य से प्राय: ऐसा होता ही नहीं! परंतु वे अपनी संगीत-प्रणाली के कारण उसे हासिल कर सकते हैं, बस!

भारतीय संगीत के स्वरूप विशेष के संदर्भ को ध्यान में लें तो आवाज संवर्धन विज्ञान का विचार करके ही अलंकार, पलटों का उपयोग करना आवश्यक बन जाता है। आवाज कमाने का जो अर्थ आज प्रचलित है उससे निराला अर्थ आवाज संवर्धन विज्ञान को अभिप्रेत है जिस से द्रुत लय में गाना और तानों के वृत्तों का होना - इस से भिन्न बुनियाद पर अलंकार-पलटों को खडा करना अनिवार्य होगा। गुणवत्ता को बढाने का उद्देश्य सामने रखकर ऐसा करना असंभव नहीं होगा। इस दिशा में मेरा प्रयत्न चल रहा है। अन्य संगीतकारों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना आवश्यक लगा - इसीलिए उसका यहाँ उल्लेख किया है।

आवाज संवर्धन शास्त्र के कुछ तांत्रिक अंग होते हैं। इसके साथ ही उसकी एक सैद्धांतिक भूमिका होती है। इस भूमिका के कारण वास्तव में तांत्रिक अंगों का स्वरूप और ब्यौरा निश्चित हो जाता है। सैद्धांतिक अंगों को लेकर गलतफहमी होने से तांत्रिक अंगों का आकलन नहीं होता और उनसे लाभ भी उठाया नहीं जा सकता। इस लेख में तांत्रिक स्वरूप कायम रखने का प्रयास किया है।